Chapter-1

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

प्रथम अध्याय

नवगीत, पहचान और विकास यात्रा

NSA MEHTA LIBRARY

नवगीत, पहचान और विकास यात्रा

बीसवीं शताब्दी का अधिकांश उत्तरार्द्ध हिन्दी के गीत एवं नवगीत की विविध चर्चाओं को केन्द्र में रखकर आगे बढ़ा है। जहाँ एक ओर छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने हिन्दी कविता को नई कविता के पड़ाव पर ला खड़ा किया और इसकी भी विकास यात्रा आधुनिक कविता या सामायिक कविता तक की दूरियाँ तय कर आई वहीं छान्दस गीत में नवगीत से ही अस्मिता ही अपना वृत्त स्पष्ट कर पाई। इसके सामने अगीत, नवांकुर गीत या नये गीत ही टिके रहे। इसका प्रमुख कारण यही था कि इस विधा के सर्जकों की एक सक्षम भीड़ सामने आ गई थी, जिसने समीक्षा, समालोचना तथा सर्जना के सभी क्षेत्रों में अपना वजूद खड़ा कर दिया था।

भारतेन्दु बाबू हरीश्चन्द्र से नवजागरण काल का उदय माना जाता है, जहाँ हिन्दी कविता ने अपनी प्राचीरें प्रसरित कीं। सलज्ज और असूर्यास्पृथ्य नारी के रूप में विलासी दरवारों में अभिसारिका नायिका को सूने प्रांगण में अधिष्ठित किया। साहित्य में युगबोध के साथ जीवन के परिवर्तित मूल्यों को भी स्थापित किया गया। 'भारत दुर्दशा' अथवा 'अंधेर नगरी' जैसी रचनाओं से भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी काव्य के ज़ड़ आयामों को समय की धारा के साथ जोड़ा। राजनीतिक भ्रष्टाचार और व्यवस्था की अनीतियों को जगजाहिर किया।

साहित्य के उद्देश्य को मनोरंजन की संकुचित और निरर्थक परिधि से निकाल कर जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति से संलग्न किया।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही साहित्य की केन्द्रीय सोच में बदलाव आ गया था। कविता अथवा गीत का मिज़ाज बदल चुका था। छायावादी काव्यधारा ने मध्यकालीन रूग्ण दृष्टि को नकार दिया और युगीन संचेतना की सोच केन्द्र में स्थापित किया।

गीत विधा हिन्दी काव्य के माधुर्य स्रोत की संवाहिनी रही है। वैसे भी गीत की रागात्मक वृत्ति ने समाज के प्रत्येक वर्ग को संस्पर्शित किया है। गीत का जन्म ही लोकभूमि के प्रांगण में हुआ है, इसकी लय और राग मानवीय संवेदना को झंकृत करने में सक्षम रही है। यही कारण है कि शोक का वातावरण हो या हर्ष का संयोग, गीत ने सभी स्थितियों को हृदयंगम किया है। भारतीय संस्कृति में शोक गीत भी समाहित हैं तो हर्ष के गीत भी समाविष्ट है। इस प्रकार गीत की रागात्मक लय लोक से लोक तक व्याप्त रही है। यह लोक राग काव्य की धरोहर रहा है, जहाँ भी कविता इस राग और लय से वंचित हुई है, वहीं कविता का जनाग्रही रूझान भी आहत हुआ है।

नई कविता ने भारतीय काव्यधारा की रागात्मक अस्मिता को खण्डित करके हिन्दी काव्य का बहुत बड़ा अहित यही किया कि हिन्दी कविता आम लोगों की समझ और रूझान से दूर हो गई। यहाँ नई कविता पर कोई आधिकारिक वक्तव्य देने का औचित्य नहीं है। किन्तु गीत की अविरल और अजस्र प्रवाहित रसधारा में राग और रंगों की अहम् भूमिका रही है।

नवगीत का अभियान अपने समय की जरूरत थी। नवजागरण काल से स्वतंत्रता संग्राम की ओजस्वी भूमिका में छायावाद या रहस्यवाद की पलायनवादी वृत्ति सामने आती है। जब गीतकार वैयक्तिकता के संवेद्य भावावेश में अपनी सामाजिकता या राष्ट्रीयता को विस्मृत कर देता है। हिन्दी कविता में राष्ट्रीय स्वरों का नितान्त अभाव इस दौर में देखा जा सकता है।

जब हिन्दी कविता का रागात्मक स्वर बोझिल होने लगा। आम आदमी की हिस्सेदारी इसमें कम होने लगी। कविता कल्पनाओं की कम्य उड़ानों में गगनचारी होने लगी और हिन्दी गीत प्रणय के संयोग और वियोग के वैयक्तिक अनुभावों में ग्रस्त हो गया

तब बीसवीं सदी के प्रारंभिक उत्तरार्द्ध के दौर ने आदमी और कविता के इस अन्तराल को अनुभव किया।

हिन्दी में नवगीत का प्रारंभ युगीन संचेतना की संलग्नता को जरूरी समझकर हुआ। गीत जो अब तक गोष्ठियों, सभा खण्डों, सम्मेलनों में महज़ वाहवाही अर्जन करने के लिए या सुकंठी गायिकाओं की मधुर रागात्मक अनुगूँज की सराहनाओं तक ही सीमित रहा था, जहाँ न परिवार था, न समाज, न आम आदमी और ना हीं लोक संस्कृति की सहज प्रकृति, इस सबसे नितान्त निरर्थक भूमिका से जुड़े गीत की अर्थवत्ता पर प्रश्न चिन्ह अंकित हो गया, और इसी रूढ़ और संकुचित मानसिकता के प्रतिकार में नवगीत का जन्म हुआ, जिसका वैधानिक स्थापन स्वातंत्र्योत्तर बुद्धिजीवियों की गीतधर्मी संचेतना ने किया।

''मानवीय संचेतना में गीत की सन्निहिति को आवश्यक मानते हुए देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का कथन है कि ''उपनिषदों में ब्रह्म का निर्वचन–निरुपण करने के लिए अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा 'नेतिवादी' शैली को माध्यम बनाया गया है, इसके विपरीत मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य अथवा गीत का विवेचन करने की दृष्टि से सर्वस्वीकारवादी शैली ही अधिक समीचीन रहेगी। ऐसा कुछ भी तो नहीं जिसका ललित–कलित अन्तर्भाव कविता अथवा गीत में न होता हो – 'तदेजति तन्न एजति' – स्वरूप–कवि की अन्तर्दृष्टि किन रहस्लोक की असूर्यंपश्या वीथीयों में प्रवेश नहीं कर पाती – 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि', अतः मैं निवेदन करना चाहूँगा कि गीत की व्याप्ति सर्दियों की हाड़ कँपाती और दाँत किटकिटाती ठिठुरा देने वाली कुहरीली भोर में धूप की एक उजली–गुनगुनी स्पर्शानुभूति से लेकर, नन्हीं दूर्वा के तृणांकुरों पर सूर्योदयी अरुण–किरणों की तरुण झिलमिलाहट, ढलती हुई धूप के सान्ध्य–मौन प्रणाम में, नदी के ठहरे हुए नील–जल पर बिम्बित नक्षत्र–मण्डल की विजृंभित पगध्वनियों में और मरुस्थलों के रेतीले आयतनों में दिग्भ्रमित कस्तूरी–कुरंगों की अतृप्त डबडबाती आँखों में परिलक्षित होती है। माघ के दिनान्त–प्रान्तरों में महकती पीताभ सरसों और अलसी के नीले फूलों की गंध में और ग्राम–देवता के सिवान पर पहरुए की तरह खड़े पीपल के पत्रों की खड़खड़ाहट में, खण्डहर होती भुइयाँ बाबा की मठी में अकेली टिमटिमाती दीपशिखा में, निःशब्द धूसर

गो–पथों से थान की दिशा में लौटते ढोरों की रँभाती आकुलता और गोचारक घोषों की बाँसुरी के विलम्बित स्वरों में गीत की लयवन्ती वर्णमाला के प्रथम अक्षर राग जय–जयवन्ती के रूप में फूटते हैं। गीत मूलतः आरण्यक जनपदीय संस्कृति का आत्मज है। आंचलिक निसर्ग की सुषमा का वह क्रीड़ा–सहचर है। बरगद आम और नीम की घनी छाँहों से छनती हुई कजली तथा मल्हारों की लयवन्ती हरीतिमा और ग्राम–पुष्करिणी के तटों पर झूमते कदलीवन में गीत की छान्दसिक सुषमां अपना ऋतुपर्व मानती है। घास–फूस के छप्परों के तले शहर में रोज़ी–रोटी की जुगाड़ में जा बसे बेटों–पोतों की प्रतिक्षा में रात–रातभर बूढ़ी खाँसती पीढ़ी को गीत की टेक सहारे की लाठी बन जाती है तो गोबर–कण्डों के बिटौरों पर लहराती हुई घिया, कुम्हड़े और सीताफल की बेलों की शोभा से ही कविता और गीत अपना संजीवन–रस संचित करते हैं। मेरे कहने का आशय यही है कि आज भी विषये परिस्थितियों के बावजूद एक बेहतर गीत अथवा नवगीत, नागरिकता तथा आधुनिक चिन्तन–चर्या के परिच्छद में, तत्त्वतः मानव मन की निसर्गसम्भवा कोमल और रागात्मक अनुभूतियों का एक शाब्दिक प्रतिसंसार है।''[1]

कभी कहा जाता था कि नवगीत और नई कविता सहोदर भाई–बहन हैं। पता नहीं इस कथन की अस्लियत कितनी सत्य और कितनी संदिग्ध है फिर भी यह एक अकाट्य सत्य है कि नवगीत और पारम्परिक गीत में, जन्य–जनक सम्बन्ध होता है। जैसे पिता के अस्तित्व से पुत्र की अपनी एक पृथक् सत्ता होती है तथापि दोनों में कुछ–न–कुछ रूप, गुण, लक्षण और स्वभावज़ सादृश्य रहता है, वैसे ही पारम्परिक गीत की भाँति नवगीत भी छन्दाश्रित होता है किन्तु उनमें छान्दसिक अन्तर भी स्पष्टतः लक्षित होता है। ''पारम्परिक गीत की भाषा अन्तर 'कथ्य' को लेकर है, पारम्परिक गीत घूम–फिरकर व्यष्टिमुखी होता है तो नवगीत बहुत हद तक समष्टिमुखी। व्यष्टिपरक दृष्टि कहीं–न–कहीं रचनाकार को कल्पना केन्द्रित और स्वप्नजीवी भी बना देती है, इसके विपरीत गीत जब समष्टिगत यथार्थ की दिशा में अग्रसर होता है तब वह नवगीत की दहलीज़ पर ठिठककर दस्तकें देने लगता है और उसकी आंतरिक संवेदना बाह्य–बोध से जुड़ जाती है और उसमें इर्द–गिर्द की सच्चाइयाँ बिम्बित होने लगती हैं। इन सचाइयों का दायरा

[1] देवेन्द्र शर्मा इन्द्र – भव्यभारती, अंक–८, वर्ष–३, पृ. ९

आंचलिकता से बढ़ता हुआ नगर बोध तथा जीवन के बहुकोणीय-वास्तव से वलयित होकर वैश्वीकरण तक फैलता चला जाता है।''[1]

जब विश्व एक ग्राम की परिधि में परिकल्पित हो जाता है, तब सोच के आयाम भी अपनी परिधि को विस्तार देने लगते हैं। संवेदनाओं के क्षितिज भी प्रस्तरित होने लगते हैं, नवगीतकार नचिकेता इस धारणा को व्यक्त करते हुए कहते हैं – 'कविता अगर मनुष्यता की मातृभाषा है तो गीत मानवीय संवेदना का अर्थ-संपृक्त शब्द-संगीत है, सीधी-सच्ची आत्माभिव्यक्ति है। इसलिए मानव-सभ्यता के सभी विकसित-अर्धविकसित चरणों में गीत की मौजूदगीं का अहसास हो जाता है, क्योंकि व्यापक जन-साधारण अपनी सभी संवेदनात्मक अनुभूतियों की, समस्त सुख-दुख, हर्ष-विषाद, उत्साह-उमंग, आशा-आकांक्षा, जय-पराजय और मुक्ति-संघर्ष की भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति गीत ही में करता है। ऊपरी सतह से देखने पर गीत का रचना-कर्म भले ही हाथ माँजने की भूमि जितना सरल कर्म दिखाई देता है, लेकिन भीतरी तह में गीत का रचना-कर्म बेहद मुश्किल और पेचीदा कला-कर्म है, क्योंकि गीत में रचनाकार का सामाजिक अनुभव भी वैयक्तिक अनुभव के साँचे में ढलकर व्यक्त होता है। इसलिए गीत की सहजता, स्वाभाविकता, सामूहिकता, रागात्मकता और संगीतात्मकता, आन्तरिक आवश्यकता मानी जाती है और इनका निषेध करके गीत प्रयोगशील हेनो का ढोंग तो कर सकता है, किन्तु अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। गीत के रूपाकार में, वस्तुतः, असीम व्यंजना होती है। इसकी अनुचिन्तनात्मक संरचना में समग्रता का बोध होता है। यह एक ही विचार, भाव, अनुभूति और संवेदना को मोन्ताज शिल्प में एक से अधिक सन्दर्भों और परिस्थितियों में रखकर अपने अर्थ और प्रभान्विति का भावात्मक विकास और विस्तार करता है, अंतएव गीत का आत्मपरक्, अनुचिन्तनात्मक, रागात्मक, लयात्मक, सुगीतात्मक और लोकप्रिय होना नितान्त लाजमी है। इसकी विचारधारा इसकी अंतर्वस्तु में मूल्य-चेतना की शक्ल में विन्यस्त होती है। इन्हीं कारणों से अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान गीत-रचनाकार जहाँ निजी अनुभवों की गहरी और वास्तविक अभिव्यक्ति करता है, वहाँ वैयक्तिक और सामाजिक सन्दर्भों के साथ अन्तरंग सम्बन्ध भी कायम करता है।

[1] महेश अनघ – झनन झकास – पृष्ठभूमि से

जिससे गीत–रचना में व्यक्ति से समाज का और वस्तु से चेतना का ऐतिहासिक सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध जितना प्रच्छन्न और प्रगाढ़ होता है, गीत उतना ही अधिक अर्थपूर्ण और मार्मिक होता है। स्वाभाविक है कि हर महत्वपूर्ण और सच्चे गीत में गीतकार का स्वयं को, अपनी पहचान को उसकी भाषा में इस कदर विलीन कर देता है कि उसकी मौजूदगी का अहसास तक नहीं मिलता, किन्तु भाषा का निजी स्वर पूरी रचना में पूरी सांगीतिक अन्विति में गुंजायमान हो उठता है। इसी अनिवार्यता की वजह से ही गीत में कविता की बनिस्बत अनुभूति की सघनता, सांगीतिक लयवत्ता, ध्वन्यात्मक अनुगुंजात्मकता और अनुचिंतनात्मक आत्मपरकता अधिक होती है।''[1]

गीत–रचना की इस जटिल संरचना के कुछ अव्यक्त खतरे भी हैं, जिसकी ओर संकेत करते हुए जनकवि कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह ने आगाह किया है कि ''गीत–रचना की एक विशाल और अटूट जन–परम्परा है, जिससे अवगत नहीं हो पाने के कारण रचनाकार (गीतकार) प्रायः अपनी जमीन से कट जाता है और फिर अनुकूल प्रेरणा, प्रत्यय और प्रतिश्रुति के अभाव में विशुद्ध गीत की रचना न कर कविता या फिर कविता को ही काट–छांटकर गीत के रूप में, प्रस्तुत करने लगता है, जिससे गीत की रचना और समझ दोनों में एक बहुत बड़ा विपर्यय उत्पन्न हो जाता है और गीत की जमीन ठीक से साफ नहीं हो पाती। साथ ही, जीवन की अन्य सारी स्थितियों के साथ–साथ साहित्य और कला की सभी विधाओं का आज व्यावसायीकरण होता जा रहा है, जो राजनीतिक दाव–पेंच या तालमेल की गतिविधियों में साधन–सम्पन्न वर्ग के लिए एक असरदार हथियार सिद्ध होने लगा है। अपना सुरक्षा–बिन्दु खोजने की भागदौड़ में बेतरह टूटा हुआ साधनविहीन और भीतर से दुर्बल रचनाकार व्यावसायीकरण के इस संजाल के सम्मुख अपने को अक्सर असमर्थ पाता है और फिर गीत–रचना जैसे कठिन कर्म के भीतर एक सुदृढ़ और संगठित ईकाई न रहकर एक बिखरी हुई और प्रभावहीन स्थिति मात्र रह जाता है।''[2]

कुछ आलोचक या समीक्षक अपनी पहचान दर्ज कराते रहने के व्यामोह में बहुत कुछ विवादास्पद भूमिका से भी संलग्न हो जाते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने बड़ी ही स्वस्थ

---

[1] नचिकेता – उत्तरार्ध – शिवराम (कोटा), पृ. १७
[2] मधुकर अस्थाना – और कितनी देर, पृ. ५

मनस्थिति में कहा है कि ''गीतों ने ही जन मानस को बदलने में क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है'' और ''यदि विद्यापति को हिन्दी का पहला कवि मान लिया जाय तो हिन्दी कविता का उदय ही गीत से हुआ, जिसका विकास आगे चलकर संतों और भक्तों की वाणी में हुआ। गीतों के साथ हिन्दी कविता का उदय कोई सामान्य घटना नहीं, बल्कि एक नयी प्रगीतात्मकता (लिरिसिज्म) के विस्फोट का ऐतिहासिक क्षण है जिसके धमाके से मध्ययुगीन भारतीय समाज की रूढ़ि–जर्जर दीवारें हिल उठीं, साथ ही जिस की माधुरी जनसामान्य के लिए संजीवनी सिद्ध हुई।''[1]

गीत का सकारात्मक पक्ष लेने वाले नामवर सिंह अपने बदले हुए तेवर में अब यही कहते हैं कि ''गीत आज संभव नहीं रह गया है, पर गीतकारों को निराला से होड़ लेनी चाहिए जिन्होंने पांच सौ से अधिक गीत लिखे। आज का गीतकार नीरज से होड़ लेता है, और नई कविता से ईर्ष्या करता है, नामवर सिंह के इस अनुसंधानात्मक निष्कर्ष के अन्तर्जगत से संजीदगी के साथ प्रवेश करते ही ये बातें पूरी तरह से उजागर हो जाती हैं कि नामवर सिंह का यह निष्कर्ष मनोगतवादी है, वस्तुवादी हरगिज नहीं और वह समकालीन हिन्दी गीत, खासकर नवगीत और जनगीत, से पूरी तरह नावाकिफ हैं, क्योंकि आज का कोई भी नवगीतकार और जनगीतकार न तो नीरज को अपना आदर्श मानता है और न ही उनकी रचनाशीलता से होड़ लेने का सपना देखता है। निराला ने अगर पांच सौ के करीब गीत लिखे हैं तो आज कई ऐसे समकालीन गीतकार मौजूद हैं, जिन्होंने एक हजार या एक हजार से भी अधिक गीत लिखे हैं। आज का गीतकार निराला से भी होड़ लेना चाहेगा, क्योंकि वह शिद्दत के साथ महसूस करता है कि जब सामाजिक यथार्थ बदलता है तो उसकी अभिव्यक्ति के तरीके भी बदल जाते हैं। जाहिर है कि आज के गतिशील सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के निमित्त निराला के गीतों के छन्द, लय, शब्द, मुहावरे, भाषा, संवेदना और अनुभूति की संरचनाएँ अपर्याप्त साबित होंगे।''[2]

''गीत या नवगीत की जमीन आम आदमी की सामाजिकता के अनुमान पर बिछी हुई है। गीत का जन्म वर्ग विभेद रहित आदिम मानव–समाज–व्यवस्था में सामूहिक श्रम–

---

१ वही, पृ. ७

२ मधुकर अस्थाना – और कितनी देर, पृ. ८

प्रक्रिया के दौरान समूह गीत की शक्ल में हुआ है। आदिम श्रमशक्ति को संगठित, पूँजीभूत और गतिशील करना तथा श्रम–शक्ति के ह्रास (क्षय) से उत्पन्न तनाव या थकान का परिहार तथा जीत की खुशी, उल्लास और उमंग को व्यक्त करना ही तत्कालीन समूह गीतों का प्रभाव–संगठक उद्देश्य था। उन समूह गीतों में समाज के सामूहिक संवेगों को ही अभिव्यक्ति मिली थी। चूंकी तब तक मानव समाज में निजी पूँजी और श्रम–विभाजन की शुरूआत नहीं हुई थी तथा मनुष्य अपना सारा उत्पादन कार्य समूह में ही किया करता था। यह अलग बात है कि तत्कालीन उत्पादन कार्य बिलकुल प्राक् अवस्था में था यानी सिर्फ भूख मिटाने की खातिर किये गये फल–संग्रह, पशुओं के शिकार और आत्मरक्षार्थ संघर्ष तक ही सीमित था। इसलिए उस काल में सामूहिक संवेग की ही उत्पत्ति संभव थी। स्पष्ट है कि ये समूह गीत नृत्य, संगीत तथा अन्य धार्मिक क्रिया–कलापों से समन्वित होकर आदिम मनुष्यों की बुनियादी वृत्तियों को सामूहिक कर्म के वास्ते संगठित, प्रेरित और गतिशील करते थे। अपने स्वभाविक विकास–क्रम के वास्ते संगठित, प्रेरित और गतिशील करते थे। अपने स्वभाविक विकास–क्रम में, कालान्तर में, निजी पूँजी का श्रम–विभाजन और सामाज में वर्ग–विभेद का उदय हुआ। इसी दरम्यान गीत की ही कोख से कविता का जन्म हुआ। क्या कोई माँ अपने कुमाऊ पूत से ईर्ष्या करती है?''[1]

इस आधुनिकतावादी मिथ्या अवधारणा के ठीक विपरीत, कि आज के अत्यंत ही संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ की, उसकी सम्पूर्ण जटिलता के साथ समग्रता में व्यक्त करने में गीत की अत्यंत ही संक्षिप्त, आत्मपरक् और अनुचिंतनात्मक संरचना पूरी तरह अक्षम हो गयी है, आजकल गीत खूब लिखे जा रहे हैं, व्यापक जनता के एक तबका विशेष, खासकर मध्यम वर्ग में लोकप्रिय भी हो रहे हैं। बिस्लाव शिम्बौस्की मानती हैं कि दुनिया का कोई ऐसा कवि नहीं है जो यह कह सकता है कि हां, मैं सब कुछ लिख चुका हूँ और नया लिखने को मेरे पास कुछ नहीं है। कोई भी एक कला–रूप यह दावा भी नहीं कर सकता कि वह समस्त मानव–जीवन की सम्पूर्ण जटिलता को समग्रता में व्यक्त कर चुका है और दूसरे कला–रूपों को व्यक्त करने योग्य कुछ शेष नहीं बचा है। ऐसी स्थिति में, जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचिवाला जड़ मनुष्य ही एक काव्य–विधा को दूसरी काव्य–विधा के

[1] मधुकर अस्ठाना – और कितनी देर, पृ. ९

मुकाबले खड़ा करता है और उसकी अभिव्यक्ति–क्षमता के निःशेष हो जाने की घोषणा भी कर देता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही गीत के रचना–परिदृश्य पर एक गुणात्मक तब्दीली दृष्टिगोचर होने लगी थी, जो निस्संदेह साहित्य और गीत में आधुनिकतावादी सामाजिक चेतना और रचना–दृष्टि के विकास का परिणाम थी। इस सकारात्मक परिवर्तन से गीत–रचना के कथ्य, छंद, लय, संगीत और संवेदना में भी काफी बदलाव आये थे। बदली हुई संवेदना के इन्हीं बदले हुए गीतों को 'नवगीत' के नाम से जाना–पहचाना गया था।

किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान उसके लोकगीत में या नागर गीतों में मुखर होता है। किसी भी देश की जनता पर शासन करने के लिए उस देश की सांस्कृतिक चेतना को या तो विकृत कर दिया जाता है अथवा तनावग्रस्त करके समाप्त कर दिया जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि अगर देशज सांस्कृतिक जीवन शक्तिशाली रूप में मौजूद है तो विदेशी प्रभुत्व कभी भी निश्चिन्त होकर अपना शासन स्थायी नहीं बना सकता है। भारत वर्ष के इतिहास में मुगल प्रशासन की आधारशिला के परिप्रेक्ष्य में इस कथ्य को परखा जा सकता है, जब सम्राट अकबर ने भारतीय सांस्कृतिक सोच को उदारवादी संरक्षण दिया और भारत वर्ष पर सफलता के साथ शासन किया किन्तु कालान्तर में औरंगजेब ने जब इस देश की संस्कृति पर हल्ला बोला तो उसके प्रशासन चूल हिलने लगी और कालान्तर में मुगल प्रशासन का अस्त ही हो गया।

संस्कृति की सुरक्षा उसके लोकाग्रही गीतों के कंधों पर भी आरूढ़ रहती है। लोकगीत, जनगीत या नवगीत इस विरासत की सार्थक पीढ़ियाँ हैं, जो आम–आदमी की सहज सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हैं।

नवगीतकार मधुकर अष्ठाना रचनाकार के दायित्व–बोध को इंगित करते हुए कहते हैं कि, ''रचनाकार सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है और अपने इसी विशिष्ट गुण के प्रतिफल में वह सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार, अन्याय तथा आम आदमी के दुःख दर्द को अधिक गहरायी से अनुभव करता है एवं उसके अनुरूप प्रतिक्रिया भी करता है। मानव मूल्यों के क्षरण, सांस्कृतिक पतन और

सामाजिक आर्थिक न्याय की चिंता उसे सर्वाधिक द्रवित करती है जिससे वह स्वयं को उन्हीं सरोकारों से जोड़ लेता है किन्तु उसे विरोध भी सहन करना पड़ता है एवं उसकी स्वाभाविक संवेदनाओं तथा भावनाओं को मृतप्राय बनाने का प्रयास भी किया जाता है। आक्रोश एवं प्रतिरोध की प्रबल अभिव्यक्ति विशेष वर्ग को कभी सहन नहीं होती जिसके उदाहरणों की कमी नहीं है फिर भी कवि की ईमानदार चिंतायें अपने सरोकारों एवं चुनौतियों को स्वीकार कर संघर्ष से पीछे नहीं हटतीं और वह निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर सामूहिक हित के लिए स्वयं को समर्पित कर देता है। सामाजिक न्याय पर आधारित समतामूलक समाज एवं मानव मूल्यों की स्थापना ही जीवन का ध्येय बन जाता है किन्तु रचनाकार का कर्म तथ्यगत यथार्थ को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना है न कि समाधान का सुझाव देना। उसका कर्तव्य है प्रश्न उठाना और उत्तर खोजना तो समाज की प्राथमिकता होनी चाहिए।''[1]

साहित्यकार विशेष रूप से गीतकार / नवगीतकार जहाँ सामान्य जन की अपेक्षा अधिक संवेदनशील है वहीं समय की नब्ज़ भी पहचानने में समर्थ होना आवश्यक है। गीत और नवगीत में यही परख अंतर स्थापित कर देती है। नवगीत न्यूनतम शब्दों में प्रतीक–बिम्ब में नवता, गेयता, रागात्मकता, रसात्मकता के साथ युगबोध की यथार्थ स्थिति को व्यंजित करता है जबकि गीत वयक्तिवादी इतिवृत्तात्मक है एवं नवता की उपेक्षा करता है। प्रश्नों को गीत स्वयं उठाता है और समाधान भी पाठक के सम्मुख रखने का प्रयास करता है। नवगीत में कथ्य व्यंग्यात्मक होता है जो व्यंजना के अभाव में पंगु हो जाता है। व्यंजना ही नवगीत का प्राण तत्व है इसकी सपाटबयानी एवं सरलतम रूप में भी व्यंजना का अभाव नहीं रहता। नवगीत का टटका शब्द–विन्यास उक्तियों, मुहावरों, आंचलिक प्रभावों, मिथकों तथा अनुभूतियों के रस में पगा होता है। जिसमें सम्प्रेषण की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती। कल्पना एवं वायवीयता का स्थआन नवगीत में है ही नहीं इन्हीं सब घटकों एवं विशेषताओं के कारण ही नवगीत का सौन्दर्यबोध गीत से पृथक हो जाता है। नवगीत में छांदसिकता है किन्तु वह लयात्मकता तक ही सीमित है परन्तु इसके विपरीत लयात्मककता को भी भंग करने का उपक्रम नवगीत को विरूपित कर देगा जो इसके हित

[1] मधुकर अस्थाना – और कितनी देर, पृ. ११

में नहीं होगा।''[1]

गीत की विकास यात्रा के सामयिक पड़ाव नवगीत पर आकर रूकता है। मूल में गीतात्मक भावभूमि की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। गीतविधा इसके केन्द्र में स्थित है। गीत विधा को किसी अनुभव विशेष से संबद्ध नहीं मान लेना चाहिए। जब तक हम 'व्यक्ति' और 'समाज', 'अंतर्जगत' और 'बाह्य जगत', 'भाव' और 'बुद्धि' जैसी अवधारणाओं को परस्पर विरोधी एवं अपवर्जी मानते रहेंगे तब तक गीत की प्रभाव–प्रक्रिया को ठीक तरह से नहीं समझ सकते। अधिकांश गीतों में ऊपर से देखने पर हमें यह लगेगा कि वहाँ केवल कुछ भावावेग ही मुक्त रूप से व्यक्त हो रहे हैं, किन्तु वास्तव में उन भावावेगों की विशिष्टता, दिशा तथा उनकी तीव्रता रचनाकार की उस जीवन–दृष्टि से प्रभावित होती है जो उनके परोक्ष में काम करती है और इस जीवन–दृष्टि के निर्माण में रचनाकार के समूचे व्यक्तित्व को, उसकी बौद्धिक क्षमता की तथा बाह्य जगत के आक्षेपों से निपटने के लिए उस द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों की भूमिका होती है। इस प्रकार किसी गीत में केवल भावावेग ही नहीं, अन्तर्जगत एवं बाह्य जगत की रचनाकार की समझ और इस समझ से जुड़ी हुई उसकी क्रियाएँ भी अनिवार्य रूप से व्यक्त होती है। एक रचनाकार की समझ तथा गहराई और प्रौढ़ता को आँकते समय इस बात को विशेष महत्व नहीं देना चाहिए कि उसने कौन सी विधा अथवा किस प्रकार के शिल्प का सहारा लिया है।

''गीत विधा के अन्तर्गत जनवादी और गैर–जनवादी रचनाओं के बीच के भेद को समझने के लिए हमें वहाँ व्यक्त होने वाली भावनाओं के पीछे पायी जाने वाली रचनाकार की समझ को जानना होगा और यह देखना होगा कि उसके आधार पर रचनाकार की प्रतिक्रियाएँ समकालीन जीवन के केन्द्रीय मसलों के संदर्भ में किस प्रकार की होती है।''[2]

बहुत से गीतकार मूल गीत और नवगीत में अन्तराध अतिरोपण के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार लोकगीत, जनगीत, गीत या नवगीत में परिवेश और प्रस्तुति का ही अंतर है। मानव जीवन के संवेद्य रागात्मक वृत्ति सर्वत्र केन्द्रस्थ रही है।

ओमप्रकाश ग्रेवाल इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, 'नवगीत के नाम से

१ वही, पृ. १८

२ ओमप्रकाश ग्रेवाल – शिनाख्त, पृ. ४७

प्रचलित अधिकतर गैर–जनवादी गीतों में कस्बों अथवा महानगरों में बसने वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति की बेबसी तथा पराजय–भावना अथवा उसकी कड़वाहट और खीझ ही प्रायः व्यक्त होती है। एक तरफ तो यहाँ हमें एक अकेला व्यक्ति खड़ा नजर आता है और दूसरी ओर उसे खौफजदा रखने वाला महानगरीय परिवेश जिसमें अजनबी चेहरे हैं और मशीने हैं, हड़बड़ी है और अस्थिरता है। इन गीतों में व्यक्त होने वाली मनःस्थिति के अंतर्गत हमें लगता है कि हम एक ऐसे संसार में जी रहे हैं जिसमें व्यक्ति अपनी मानवीय गरिमा खोकर नगण्य हो गया है और उसकी सभी मान्यातओं पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। दिशाहीन होकर वह अंधकार में भटक रहा है और कदम–कदम पर उसे अप्रत्याशित झटके लगते रहते हैं। अपने छूँछे पड़ गए पारंपरिक मूल्यों की खोखल से बाहर निकलते ही उसे यह समूचा संसार एक हास्यास्पद किन्तु भयभीत कर देने वाला बेतुका नाटक नजर आने लगता है। तत्कालीन जीवन–परिस्थितियों के बारे में उभर कर आने वाली इस प्रकार की समझ गीतों में सीधे विवरणों अथवा तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा नहीं प्रस्तुत की जाती, किन्तु वहाँ व्यक्त होने वाली भावनाओं से तथा वहाँ प्रयुक्त होने वाली लय और ध्वनि से अथवा बिम्बों और अनुगूँजात्मक कथनों से जिस प्रकार के संसार की रचना होती है वह इसी समझ पर आधारित लगता है। जाहिर है कि शोषण पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न हमारे सामाजिक जीवन के संकट की एक विकृत–सी समझ ही इन गीतों में उभर पाती है। रचनाकार के अंदर न तो इस संकट के मूल कारणों को जानने की जिज्ञासा होती है और न ही इससे उबरने के लिए सही रास्ते की खोज की कामना।

''गैर–जनवादी गीतों की एक और धारा भी है जिसका प्रस्थान बिन्दु तो नवगीत की तरह ही महानगरीय परिवेश में मध्यवर्गीय व्यक्ति की संत्रास भावना ही होता है किन्तु यहाँ इस कटु अनुभव से पलायन करने के प्रयासों की प्रधानता होती है। इस प्रकार के पलायन का एक रूप तो यह होता है कि व्यक्ति संसार से विरक्त होकर अपने आपको अपने अंदर ही समेट ले। दूसरा रूप ग्रामीण जीवन के रूप–रंग और लय का सहारा लेकर ऐसे कल्पना–जगत की सृष्टि करना होता है जहाँ आधुनिक जीवन से उत्पन्न बेचैनी और खिन्नता को कुछ देर के लिए भुलाया जा सके। यद्यपि इस प्रकार के गीतों में लोकधुनों और लोक मुहावरों का सहारा अवश्य लिया जाता है किन्तु संवेदना और दृष्टिकोण यहाँ

व्यक्तिवादी होते हैं।''[1]

गीत संरचना की जमीन आम आदमी के पैरों तले विधी रहती है। कविता में अभिजातीय संस्कार उसे कुछ कालखण्ड तक वैशिष्ट्य अवश्य प्रदान करते हैं किन्तु भारतीय काव्यधारा की मुख्य गति तो गीत के रागात्मक परिसर में ही पल्लवित हुई है। मैनेजर पाण्डेय का इस संदर्भ में कथन है कि 'आज हिन्दी कविता में गीतों का जो महत्व है वह दो दशक पहले नहीं था। अभी एक दशक पहले तक गीतों को नितांत व्यक्तिगत या मनोरंजक मानकर गंभीर काव्य-चर्चा में उनकी उपेक्षा की जाती थी। आज वह स्थिति नहीं है। अब तो कुछ आलोचक गीत को ही केन्द्रीय काव्य-रूप कहते पाये जाते हैं। अब धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जा रहा है कि आज के सार्थक गीतों में आज के समय और समाज का तेज स्वर सुनाई दे रहा है। अब गीतों का महत्व बढ़ा है तो आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में खोये गीतों की खोज हो रही है और गीतों का नया इतिहास लिखा जा रहा है। इस बीच निराला, सुभद्रा कुमार चौहान और शैलेन्द्र के गीतों की ओर लोगों का ध्यान गया है और लोक गीतों का नया मूल्यांकन भी हो रहा है।''[2]

गीतों का यह महत्व अचनाक और अकारण नहीं बढ़ा है। आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में गीतों के महत्व का उतार-चढ़ाव दिलचस्प है और शिक्षाप्रद भी। प्रयोगवाद, नयी कविता और अकविता के काल में कविता की जो धारणा बनी थी उसमें गीत के लिए बहुत कम गुंजाइश थी। गीत सहजता, रागात्मकता, सामूहिकता और लोकप्रियता के अभाव में विकसित नहीं हो सकता। कविता में जहाँ जटिलता, बौद्धिकता, व्यक्तिवाद और कलावाद का आग्रह हो वहाँ गीत-रचना की कितनी संभावना हो सकती है। संभवतः यही कारण है कि प्रयोगवादी नयी कविता के प्रतिनिधि कवि अज्ञेय ने कविता में तरह-तरह के प्रयोग करने के बावजूद गीत-रचना का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है। अकविता की रचना-दृष्टिं की अराजकता गीत के लिए बंजर साबित हुई। अगर कविता के बारे में यही दृष्टिकोण बाद में भी चलता रहता तो गीतों के नये विकास की संभावना नहीं बनती। लेकिन 1970 के आस-पास कविता का यह दृष्टिकोण खंडित हुआ। कविता की इस धारणा को ध्वस्त करने का काम पूरा किया नक्सलवाड़ी आंदोलन और उससे उत्पन्न नई

[1] ओमप्रकाश ग्रेवाल – शिनाख्त, पृ. ४९
[2] मैनेजर पाण्डेय – ज्ञानोदय, कलकत्ता, वर्ष-५, अंक-२, पृ. ४७

सांस्कृतिक चेतना ने, किसी आलोचक ने नहीं। नक्सलवाड़ी आंदोलन से जो नई चेतना जगी उसने हिन्दी कविता ही नहीं पूरे भारतीय साहित्य की रचना की दिशा बदल दी। यह संस्कृति और साहित्य के इतिहास के विकास में समाज के इतिहास का निर्णायक हस्तक्षेप था। भारतीय साहित्य के विकास पर नक्सलवाड़ी आंदोलन का प्रभाव तेलंगाना आंदोलन से भी अधिक गहरा और व्यापक साबित हुआ। सन् 1970 के बाद की जनोन्मुखी साहित्य चेतना के सामने प्रयोगवाद, नई कविता और अकविता की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ टिक न सकीं। रचना का परिवेश बदला और आलोचना की कसौटी भी बदली। इसी नये परिवेश और नई चेतना के कारण जनवादी गीतों की रचना संभव हुई। आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास गवाह है कि जब-जब जन आंदोलन तेज हुए हैं और कविता आंदोलनों की ओर मुड़ी है तब-तब गीत-रचना की गति में तेजी आई है।''[1]

गीत की विशिष्ट पहचान को रेखांकित करते हुए मैनेजर पाण्डेय कहते है कि, 'गीत कविता के दूसरे रूपों से अधिक सघन संवेदना, कलात्मक संयम और भाषिक परिष्कार चाहता है। गीत गाने के लिए होता है इसलिए उसकी रचना में संगीत को भी साधना पड़ता है। संवेदना से छंद, लय और भाषा की संगति से गीत में संगीत पैदा होता है जो गीत की पूरी संरचना को अनुशासित करता है। इसी जमीन पर किसी गीतकार की शक्ति और सफलता की पहचान होती है। यहीं वह कलात्मक विशिष्टता अर्जित करता है। अगर केवल परिवर्तन की कामना, संघर्ष की चेतना और 'आग्नेय अनुभूतियों' की पहचान से अच्छे गीतों की रचना हो जाती तो जनता ही गीत लिखती, फिर कवियों की क्या जरूरत होती। कविता एक कला है, गीत और परिष्कृत कला है। इसके लिए साधना और धैर्य जरूरी है। कलावाद और रूपवाद से आतंकित होकर कला और रूप की उपेक्षा करके अरूपवाद की गोद में जा बैठना गीतकार के लिए गलत चुनाव है।'[2]

गीत के मूलवृत्त को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, 'आरंभ से ही गीत-रचना के दो मुख्य प्रयोजन रहे हैं-आत्माभिव्यक्ति और जन-जागरण। युग की जरूरत के अनुसार इतिहास में इनका महत्व घटता-बढ़ता रहा है, कभी आत्माभिव्यक्ति पर जोर रहा तो कभी जन-जागरण पर। लेकिन इन दोनों में विरोध अनिवार्य नहीं है। हिन्दी गीत काव्य के

---

[१] ओमप्रकाश ग्रेवाल - शिनाख्त, पृ. ५७
[२] ओमप्रकाश ग्रेवाल - शिनाख्त, पृ. ६१

इतिहास का स्वर्णयुग अब भी भक्तिकाल ही है और भक्तिकाल के गीतों में आत्माभिव्यक्ति और जन–जागरण की अनन्य एकता है। आधुनिक काल में आत्माभिव्यक्ति और जन–जागरण के गीतों में दूरी बढ़ी है। इस दूरी को बढ़ाने में व्यक्तिवाद की बड़ी भूमिका है। गीत में आत्माभिव्यक्ति का रूप बहुत कुछ गीतकार की चेतना के स्वरूप पर निर्भर होता है। व्यक्तिवाद रचनाकार को आत्मकेन्द्रित बनाता है और उसकी आत्माभिव्यक्ति को संकुचित। इसके विपरीत जनवाद रचनाकार की चेतना को व्यापक बनाता है और उसकी आत्माभिव्यक्ति में व्यापकता होती है। भक्तिकाल ही नहीं छायावाद के भी श्रेष्ठ गीतों में आत्माभिव्यक्ति और जन–जागरण की एकता देखी जा सकती है।

''आजकल जन–आंदोलनों के विकास के साथ जन–जागरण के गीतों की जरूरत बडी है इसीलिए उनकी रचना भी हो रही है। लेकिन आत्माभिव्यक्ति को गैर जरूरी समझकर गीत के एक महत्वपूर्ण रूप और प्रयोजन की उपेक्षा हो रही है।''[1]

नवगीत को गीत का नवीन संस्कार माना तो गया है किन्तु गीत और नवगीत के वृत्त में गठन और व्यंजना के स्वर पर एक अनतर अवश्य है, जो नवगीत को गीत से कुछ अतिरिक्त विशिष्टता प्रदान करता है।

शम्भूनाथ सिंह ने नवगीत को पारिभाषित करते हुए अपने प्रथम वक्तव्य में स्पष्ट किया था कि–

1. नवगीत स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के तीन दशकों में विकसित वह नवीन काव्यधारा है जो एक ओर तो पारम्परिक गीत–धारा से नितान्त भिन्न है, दूसरी ओर समसामयिक नयी कविता से, कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर, पूरी तरह अलग हटी हुई है। मात्र गीत कहने से उसकी पहचान खो जाती है और नयी कविता कहने से उसकी अस्मिता ही लुप्त हो जाती है अतः नवगीत ही उसका एकमात्र सार्थक नाम है।

2. नवगीत आधुनिकतावादी कविता है, किन्तु वह आधुनिकता को सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं बल्कि देशकाल–साक्षेप मानता है। अतः उसकी आधुनिकता भारतीय परिपेक्ष्य वाली विशिष्ट आधुनिकता है अर्थात् वह पाश्चात्य आधुनिकता का अन्धानुकरण नहीं है। वह भारतीय परिस्थितियों के गर्भ से उत्पन्न, यथार्थ और भोगी हुई अनुभूतियों

[1] ओमप्रकाश ग्रेवाल – शिनाख्त, पृ. ७१

की आधुनिकता है। वह नयी कविता को अनुकृत और फैशनपरस्त आधुनिकता के समान भारतीय मानस के लिए अटपटी और अबूझ पहेली नहीं बल्कि समझी-बूझी और देखी-सुनी आधुनिकता है। नवगीत इसी भारतीय आधुनिकता को अभिव्यक्त करता है।

3. नवगीत भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली कविता है क्योंकि वह वैदिक-सैन्धव-सभ्यता के काल से लेकर अब तक अखण्ड प्रवाह के रूप में चली आती भारतीय संस्कृति से जुड़ी हुई वास्तविक भारतीय कविता है। किन्तु साथ ही वह समस्त सड़ी-गली नैतिक, सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों से पूर्णतः असम्पृक्त है। वह भारतीय मनीषा के अखण्ड वाग्प्रवाह की अधुनातन धारा है जिसमें भारत की आत्मा प्रवहमान है।

4. नवगीत लोकधर्मी और लोकाश्रयी कविता है। वह नयी कविता की तरह गिने-चुने अभिजात जनों (एलीट) की कविता नहीं है बल्कि धनी-गरीब, साक्षर-निरक्षर, नागर-ग्राम्य और विशिष्ट-सामान्य, सभी जनों की अर्थात् ड्राइंगरूम की गोष्ठी से लेकर मंचों-चौराहों, चौपालों-नुक्कड़ों तथा बसों-रेलगाड़ियों तक की कविता है क्योंकि वह मात्र पाठ्य काव्य ही नहीं, श्रव्य काव्य भी है अर्थात् वह पाठ्य और गेय दोनों ही है।

5. नवगीत इस अर्थ में भी भारतीय कविता है कि वह अपने देश की जमीन और सामान्य जनता से जुड़ा है। उसकी जड़ें गहराई तक भारतीय जनजीवन में घूसी हुई है वह देश की आंचलिक संस्कृति और विभिन्न क्षेत्रों की लोकवार्ता को अपना उपजीव्य बनाकर आदिम बिम्बों की सृष्टि करता और इस तरह भारतीय अस्मिता को उजागर करता है। फलतः वह नयी कविता की भाँति विदेशों से आयातित कविता नहीं बल्कि भारतीय मिट्टी की बहुविध रस-गन्ध में रची-बसी देशी कविता है।

6. नवगीत की विशिष्टता कला के चतुर्थ आयाम की धारदार और तीखी अभिव्यक्ति है। आइन्सटीन के सापेक्षतावाद का चतुर्थ आयाम-काल ही कला का भी चतुर्थ आयाम है। उसके शेष तीनों आयाम-विषयवस्तु, शिल्प और दृष्टि-बोध काल-सापेक्ष होते हैं अर्थात् समकालीन सामजिक और वैचारिक परिस्थितियों का दबाव कला के उक्त तीनों आयामों में बदलाव ले आता है। नवगीत की कथ्य, शिल्प और बोध सम्बन्धी समस्त नवता भारत की स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिस्थितियों के बदलाव की देन है। पारम्परिक गीतों पर इस बदलाव का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और नयी कविता का

अधुनातन रूप भी कालहीनता के विराट् शून्य में भटक गया है। केवल नवगीत काल के दबाव का संवेदनात्मक धरातल पर व्यापक अंकन करने में सफल हुआ है। उसमें युगीन जीवन के प्रत्येक स्पन्दन का कलात्मक ध्वन्यंकन हुआ है। इस तरह वह कालबद्ध होकर ही अपनी अद्वितीयता को प्रमाणित कर सका है।

7. नवगीत पूर्णत बिम्बधर्मी काव्य है। उसकी बुनावट बिम्बों के ताने–बाने से हुई है। किन्तु उसके बिम्बे पूर्ववर्ती कविता के समान अलंकृत, अनुकृत, रूढ़ अथवा काल्पनिक नहीं है। उसमें या तो ऐसे प्रातिभ बिम्बों का प्रयोग हुआ है जो पश्यन्ती वाक् के स्तर से अभिव्यक्त होने के कारण सर्वथा नवीन, अछूते और अकल्पनीय हैं या उसमें अधिकतर यथार्थ जगत् के अनुद्घाटित आयामों के अप्रयुक्त बिम्ब प्रयुक्त हुए हैं जैसे वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र के जीवन्त बिम्ब, महानगरों के त्रासद और नाटकीय बिम्ब, ठेठ ग्रामीण अंचलों एवं वन–पर्वतों के आदिम तथा मिथकीय बिम्ब, भोगी हुई जीवनानुभूतियों के संश्लिष्ट बिम्ब, उपचेतन के अंधकार में निहित वासनाओं के छद्म रूपों के खण्डित एवं प्रतीकात्मक बिम्ब तथा राजनीतिक–सामाजिक संगतियों और विडम्बनाओं के सांकेतिक और ध्वन्यात्मक बिम्ब। इन बिम्बों की पहचान ही नवगीत की सही पहचान है।

8. नवगीत आनुशासित लयात्मकता और नाद–योजना को भारतीय काव्य–परम्परा के महत्तम दाय के रूप में स्वीकार करता है और यह मानता है कि भौतिक जगत् में जिस तरह अनवरत लयात्मक स्पन्दन होता रहता है उसी तरह अक्षुण्ण जीवनीशक्ति वाले काव्य में भी लयात्मक स्पन्दन का होना अनिवार्य है। वह स्पन्दनशील नादतत्त्व ही कविता को शेष सृष्टि के साथ जोड़कर उसे असीम जीवनीशक्ति प्रदान करता है। यों तो गीत मात्र का अस्तित्व लय अथवा नादयोजना पर आधारित है, परन्तु नवगीत की विशेषता यह है कि उसमें लयात्मकता की नवीन सम्भावनाओं की खोज और उपलब्धि की गयी है। वह लयात्मकता की पूर्वज्ञात सीमाओं को अतिक्रमित करके छन्द–सागर की नवीन और अछूती लहरों को पकड़ने में सफल सिद्ध हुआ है। उसने बदली हुई युगीन परिस्थितियों के लयात्मक स्पन्दन को पकड़कर उसे अपनी काव्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। उस तरह उसमें समकालीन युग–जीवन के स्पन्दन और संवेग का संगीत

सुनायी पड़ता है। वही संगीत नवगीत की छान्दसिक लयात्मकता है जो नयी कविता में तो है ही नहीं, पारम्परिक गीत–काव्य के लिए भी अपरिचित है।

9. ''नवगीत की भाविक संरचना अपनी सहजता, सुबोधता, अकृत्रिमता और लोकोन्मुखता के कारण नयी कविता की आभिजात संस्कारों वाली भाषा तथा पारम्परिक गीतों की गलदश्रु भावुकता वाली काव्यभाषा से नितान्त भिन्न और विशिष्ट है। वह लोकाश्रित भाषा है। जिसमें आंचलिक बोलियों के शब्दों और मुहावरों का निस्संकोच प्रयोग हुआ है। किन्तु लोक–भाषा से जुड़ी होकर भी वह अपनी भंगिमा और तेवर के कारण विशिष्ट और अर्थवत्ता की अनन्त सम्भावनाओं से युक्त है। इस तरह नवगीत की भाषिक नवीनता, ताजगी, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता ही उसकी सर्वप्रमुख पहचान बन गयी है। उसमें न तो द्विवेदी–युगीन तथा प्रयोगवादी कविता के समान गद्यात्मकता और अभिधात्मकता है, न छायावादी काव्यभाषा जैसी संस्कृतगर्भित एवं अलंकृत पदवली वाली कत्रिमता है और न नयी कविता जैसी सपाटता और तार्किकता ही है। वह वक्तव्य, विवरण, विवेचन और दुरूह पहेली की भाषा नहीं बल्कि बिम्बों, प्रतीकों और संकेतों की ध्वन्यात्मक भाषा है।''[1]

शम्भूनाथ सिंह ने नवगीतकी पहचान के लिए जिस आचार संहिता का निरूपण किया था वह उनके स्थापन काल में महत्वपूर्ण था और इस प्रकार का एक आधिकारिक वक्तव्य जरुरी भी था किन्तु आज जब नवगीत अपनी पूर्ण सत्ता के साथ स्थापित हो चुका है। तब इस प्रकार की निश्चित प्राचीरों के निबंधन की आवश्यकता नहीं है।

नवगीत दशक अथवा नवगीत अर्द्शती के सम्पादन काल की अर्थवत्ता भी अब परिवर्तित हो चुकी है। मीडिया और जनसम्पर्क के कम्प्यूटरीकृत उपादानों ने हमारी जीवन प्रणाली के अर्थ ही बदल दिए हैं। नवगीत का अर्थ अब स्वातंत्र्योत्तर निकटवर्ती गीतधर्म से बहुत आगे बढ़ चुका है। अनेक समर्थ नवगीतकारों के सृजन नये आयामों और नई कथ्य भंगिमाओं के साथ सामने आ गए हैं जिन्होंने भारित का प्रारंभिक शैशवकालीन जन्मपत्रिका के गृहों को भी बदल डाला है। सम्पूर्ण वैचारिक और व्यावहारिक परिवेश बदल चुका है। ऐसे में शम्भूनाथ सिंह जैसे पुराधा आचार्यों की आप्तवाणी को ही हम

[1] शम्भूनाथ सिंह – नवगीत दशक, पृ. १४

नवगीत के मूलमंत्रों की तरह स्वीकार नहीं सकते। उन्होंने अपने समय में नवगीत का प्राथमिक वृत्त तथा गीत ऐ उसका पार्थक्य अवश्य स्पष्ट किया जो समय की आवश्यकता था, उसे नकारा भी नहीं जा सकता।

'आज नवगीतकारों की एक बड़ी जमात सामने खड़ी है। उनमें रेखांकित हस्ताक्षर हैं – शम्भूनाथ सिंह, विरेन्द्र मिश्र, देवेन्द्र शर्मा इन्द्र, उमाकांत मालवीय, नईम, माहेश्वर तिवारी, कुमार शिव, अनूप अशेष, राम सेंगर, ओम प्रभाकर, उमाशंकर तिवारी, कुमार रवीन्द्र, गुलाब सिंह, विष्णु विराट, श्रीकृष्ण तिवारी, नचिकेता, अमरनाथ श्रीवास्तव, रामदरश मिश्र, किशन सरोज, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, शांति सुमन, महेश अनघ, नीलम श्रीवास्तव, निर्मल शुक्ल, मधुकर अष्ठाना, शैल रस्तोगी, राधेश्याम शुक्ल, योगेन्द्र दत्त शर्मा, शीलेन्द्र कुमार सिंह चौहान, महेन्द्र नेह, यश मालवीय, सतीश कौशिक, ओम प्रकाश सिंह, विद्यानन्दन राजीव, अश्वघोष, मधुकर गौड़, राजेन्द्र गौतम, दिनेश सिंह, वीरेन्द्र आस्तिक, सत्यनारायण, जगदीश श्रीवास्तव, कुँवर बेचैन, सोम ठाकुर, रामानुज त्रिपाठी, रमेश गौतम, तथा इस पीढ़ी के और भी अनेक नवगीतकार हैं जिन्होंने नवगीत को सम्पन्नता और समृद्धि प्रदान की है।'[1]

वर्तमान में जब यह प्रश्न सामने आता है कि जब गीत अपने सम्पूर्ण वृत्त के साथ परिवर्तित सज्जा के साथ आगे बढ़ रहा था, तब नवगीत की कथा आवश्यकता अनुभव हुई?

नवगीत काव्य–धारा हमारे साहित्य में इसलिए भी आवश्यक है कि उसने परंपरागत काव्य रूढ़ियों के शैवाल को झटककर एक नया और स्वस्थ कलवेर धारण किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के ढाई दशक अपनी काव्य–परम्परा और संस्कृति से बेगाने हो पश्चिमी काव्य–पद्धति और जीवन बोध का अनुसरण करते हुए लगभग अपनी जड़ों से ही कट गये थे। जिस तरह जड़ विहीन वृक्ष शुष्क हो जाता है, वैसे ही ये कवितायें भी शुष्क होती गई थीं। तभी नवगीतकारों ने नवगीत की रचना के माध्यम से अपनी जड़ों से जुड़े रहना और उससे रस ग्रहण करना अनिवार्य समझा। इसी बात को लेकर डॉ. सत्येन्द्र शर्मा अपने नवगीत संवेदना और शिल्प में लिखते हैं – **''नवगीत में**

[1] नवगीत शिखर – भव्यभारती, अंक–१२, पृ. ३१

भारतीयता का स्वरूप भारतीय जीवन पद्धति, आचार-विचार, दृष्टिकोण, मान्यताओं और मूल्यों की अवधारणा में व्यक्त होता है। पर्वों, उत्सवों और संस्कारों के प्रति निष्ठा का भाव तथा स्वाभाविक शआन्तिकामी प्रवृत्ति में उसकी सांस्कृतिक चेतना प्रकट हुई है। देशज भाषा की महत्ता के जरिए अपने परिवेश से सहज लगाव को उद्घाटित किया है। पौराणिक ग्रन्थों के कथा संकेतों, पात्रों, प्रतीकों, मिथकों, ऐतिहासिक वृतान्तों, सामाजिक विश्वासों लोक मान्यताओं, अनुष्ठानों और रस्म-रिवाजों का यथा प्रसंग अंकन नवगीत में भारतीयता से संस्कारगत जुड़ाव की पहचान है।''[1]

नवगीत ने सिर्फ भारतीयता को ही नहीं अपनाया बल्कि विश्व-साहित्य की चेतना को भी अपने भीतर समाहित किया है।

''नवगीत आज की कविता का ऐसा रूप है जो पूर्वापर निष्ठा, संवेदना और विशुद्ध मानवीयता से युक्त पूर्ण यथार्थ से साक्षात्कृत अनुभूतियों की काव्यभिव्यक्ति है।''[2]

नवगीत में लोकासक्ति उसकी भावचेतना में अन्तर्मुक्त है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार भी है। यही नवगीत की प्रकृति है। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है –

''यारों इतनौ जस कर लीजौ / चिता अन्त न कीजौ /
चलत सिरम में वहै पसीना / भसम पै अन्तरु भींजौ /
गंगा जू लों मरें 'इसुरी' / दाग बगौरा दिजौ।''

तो नवगीत में जो आत्मपीड़ा है, उसका वैयक्तिक सरोकार नहीं है। माहेश्वर तिवारी की यह आत्मपीड़ा की अनुभूति सभी रचनाकारों में समान रूप से मिलती है –

''आह, हमने स्वयं को भी / कहाँ स्वीकारा /
गली – सड़कों, पार्कों / काफीघरों में /
तितलियों के पर कुचलती / भीड़ /
उग रहे इन जंगलों जैसे / शहर में /
खो गई है पीठ, गर्दन / रीढ़ /
हर तरफ है / एक झुरींदार अँधियारा।''[3]

---

[1] डॉ. सत्येन्द्र शर्मा – सम्यक, पृ. ४१
[2] डॉ. सत्येन्द्र शर्मा – सम्यक, पृ. ४१
[3] माहेश्वर तिवारी – नवगीत दशक-२, पृ. ५१

अतः कह सकते हैं कि नवगीत भले ही भारतेन्दु युग से चली आ रही गीत विधा का विकसित रूप हो, फिर भी उसमें, अपने पहले की सभी गीत विधाओं से ऐसा नाविन्य है, कि उसने अपने आपको सबसे अलग अपनी पहचान स्थापित करते हुए, अपनी आवश्यकता को स्थापित किया है। काव्य राग के आधार पर जनमुखी, परिवेशगत, प्रकृतिगत, युगबोधक और जीवनाभिमुखी होना चाहिए। यह सारी बातें नवगीत में हमें प्राप्त होती हैं। इसीलिए इस युग में जीवन्त रचना करने वाले रचनाकार के लिए, तथा रचना को आत्मसात करनेवाले श्रोता या पाठक के लिए नवगीत अति आवश्यक है। जो हमें अपनी जड़ों से जकड़कर रखता है।

नवगीत का प्रारंभ, प्रयोग और प्रगति –

हिन्दी काव्यकाश में नवगीत का प्रारंभ और विकास अपनी परम्पराओं एवम् परिवेशगत चुनौतियों के आधार पर सहज और स्वाभाविक रूप में हुआ। नवगीत के विकास का प्रारंभिक रूप हमें निराला में मिलता है। यह बात हमें उनके 1923 व 1924 ई. की रचनाओं में प्राप्त होती है।

''मैंने में शैली अपनाई / देखा दुखी एक निज भाई''

यहाँ निराला में 'मैं' की सार्वनामिक इयत्ता में सामूहिक सम्पृक्ति दिखाई देती है। इनका 'मैं' किसी सामाजिक की आँसू भरी आँखों में करुणा आंचल का स्पर्श तथा संचित अमृत नवशक्ति का सिंचन सामाजिक भूमि में करने की लालसा रखता है। छायावादोत्तर काव्य में नवगीत में आचरण की पहचान नामक आरंभिक प्रकरण में ही विस्तार से निराला के उत्तरवर्ती गीतों में नवगीत की प्रकृति को देखने–दिखाने की चेष्टा की जा चुकी है। अतः कह सकते हैं कि निराला ने गीत विधा में जो नये प्रयोग किये वे ही कालान्तर में नवगीत के उद्गम स्त्रोत प्रामाणित हुए। परंपरागत गीतों में वस्तु के अतिरिक्त शैल्पिक स्तर पर भी निराला बहुत सचेष्ट थे। यह बात उनके गीत संकलन गीतिका (1932) की लम्बी भूमिका से पता चलता है। 1931 में रचित उनका 'वर दे वीणा वादिनी वर दे' शीर्षक गीत राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की सजग सक्रिय अमृत आकांक्षा भर नहीं है बल्कि काव्य क्षेत्र की परम्परा में सर्वागतः नव उन्मेष भरने की स्पष्ट इच्छा शक्ति का उद्घोष भी है –

''वर दे वीणा वादिनी वर दे / प्रिय स्वतंत्र स्व अमृत मंत्र नव / भारत में भर दे।

नव-गति, नव लय, लाल छन्द नव / नवल कण्ठ नव, जलद-मन्द्ररव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को / नव पर नव स्वर दे।''[1]

इस प्रसिद्ध गीत में नव शब्द का विन्यास अनायास या अनुप्रास की छटा मात्र के लिए नहीं है। इन शब्दों के प्रयोग करते हुए वह कितने सजग और चेतन्य थे यह हम जानते हैं। निराला को ही नवगीत के उद्भावक मानते हुए आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी का यह कथन ध्यातव्य है कि..... **''नए युग में नई गीत सृष्टि भी हुई हैं....। निराला जैसे पुराने गीत शिल्पी ने भी नए युग के अनुरूप नई शैली के गीत लिखे हैं।''**

अतः कह सकते हैं कि निराला ही नई शैली के गीत के उद्भावक और उन्नायक हैं। नवगीत की वे सारी विशेषतायें हमें निराला के गीतों में प्राप्त होती हैं, भले ही कई आलोचक इसके विरोधी रहे हों। नवगीत के विकास को लेकर हम उसे विभिन्न चरणों में विभाजित करेंगे। ताकि उसके विकास को अच्छी तरह से समझ सके।

1) प्रथम चरण : सन् 1925 से 1950 ई. तक

ढाई दशकों की इस कालावधि को डॉ. सत्येन्द्र शर्मा ने प्रयोग-भूमि कहा है। उनका कहना है कि **''तीसरे दशक के मध्य को नवगीत की प्रयोगभूमि कहना आकस्मिक तौर पर अचरज में डालने वाला कथन लग सकता है किन्तु खड़ी बोली में नए ढंग की गीत यात्रा पर सूक्ष्म विचार करने पर यह सूत्र बखूबी खुलता हुआ नजर आवेगा।'' ''खड़ी बोली में नये गीतों के प्रथम सृष्टिकर्ता प्रसादजी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नये गीत हैं।''** छायावाद में रहस्यात्मक अनुभूति, आदर्शवादी दृष्टिकोण, कल्पना की अतिशयता और वायवी सौन्दर्यानुभूति, प्रेमजन्य सुख-दुःख के साथ धुलकर पहली बार प्रसादजी के गीतों में मुखरित हुई। अतः वे खड़ी बोली में नए गीतों के प्रथम 'सृष्टि कर्ता' हुए। फ़िर भी इन गीतों में नवगीत की विशेषतायें दृष्टिगत नहीं होती। जबकि निराला के अनेक गीत प्रारंभ से ही वस्तु-चेतना में छायावादी भाव-भूमि से बिलकुल अलग थे। उनके अनेक गीत छन्द संरचना की नयी-नयी टेकनिक, भावस्तर पर यथार्थोन्मुख जीवन की अभिव्यक्ति और सहज भाषा विन्यास के कारण नये ढंग के गीतों की शुरूआत बनते हैं। तीसरे दशक के मध्य में ही निराला के आरंभिक गीतों में नवगीत का व्यक्तिगत भासिक

[1] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राग-विराग, पृ. २७

मिलता है। उनके 'अधिवास' (1923), ''गए रूप पहचान'' (1923), ''क्या दूँ'', ''ध्वनि'' (दोनों 1924) आदि गीत देखे जा सकते हैं। ''पतनोन्मुख'' (1925) गीत तो अपने संक्षेप में राष्ट्रीय जन-जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने की जो त्वरा लिए हुए है- वह भी प्रकृति के माध्यम से आगे आने वाले नवगीत का संकेत हैः

''हमारा डूब रहा दिनमान / मास-मास दिन-दिन प्रतिपल।
उगल रहे हो गरल-अनल / हिम-हत-पातों-सा असमय ही /
झुलसा हुआ शुष्क निश्चल / विकल डालियों से /
झरने ही पर है पल्लव-प्राण / हमारा डूब रहा दिनमान।''

डॉ. शंभुनाथ सिंह ने निराला कृत ''मातृ-वंदना'', ''शेष'' आदि गीतों को नवगीत का प्रस्थान बिन्दु कहा हैं। और इस आधार पर नवगीत का प्रारंभकाल 1920-21 माना हैं। जबकि डॉ. सत्येन्द्र शर्मा 1925 से मानते हैं। उनका कहना है कि निराला रचनावली-1 मैं इन गीतों की प्रकाशन तिथि क्रमशः 1926 से 1931 दी हुई हैं। ''परिमल'' (1929), ''अनामिका'' (1939) के संकलनों में ''रूखी री यह डाल'' (1932), ''खुलती मेरी शेफाली'', ''मैं रहूँगा न'' (1936) आदि गीतों में प्रकट आत्माभिव्यंजना के पीछे सामाजिक यथार्थ की परतें हैं। तो ''उक्ति'' (1937), ''मरण-दृश्य'', ''प्राप्ति गीत'', ''और और छवि'' (1938) ''चाल ऐसी मत चलो'', ''बहती निराधार'', ''टूटे सकल बन्ध'' (गीतिका) आदि गीतों का शिल्प विशेष रूप से माननीय है। जिसका बहुविध छन्द विधान नवगीत की प्रेरणा भूमि है।

''अणिमा'' (1943) में संकलित, ''मैं अकेला'' (1940), ''गहन है यह अन्धकारा'', ''स्नेह निर्झर बह गया'', ''मरण को जिसने वरा है'', (1942) आदि गीतों की वस्तु चेतना नवगीत में प्रसार पा गई है। तो ''बेलो'' (1946) व ''नये पत्ते'' (1946) की गीत-चेतना नवगीत में पुष्ट और प्रस्रवित हुई है।

तो नवगीत को लोक जीवन की ऊष्मा और मिट्टी की सोंधी गन्ध की काव्यात्मक शक्तिमत्ता की प्रेरणा माखनलाल चतुर्वेदी से प्राप्त हुई। पांचवे दशक के उत्तरार्द्ध में लिखे उनके गीत ''हिम किरीटनी'' (1942), ''हिम तरंगिनी'' (1944) और ''माता'' (1952) में सग्रहीत है। साथ ही गीत - विधा को भाषा और वस्तु दोनों स्तरों पर

बालकृष्ण शर्मा ''नवीन'' ने नया मोड़ दिया। नवीन जी के गीत ''कुंकुम'', ''रश्मि रेखा'', ''अपलक'' (1951) तथा ''क्वासि'' (1952) में प्रकाशित हैं। उनके गीतों में विस्तार रहते हुए भी त्वरा में कमी नहीं है।

भगवती चरण वर्मा 'मधुकण', 'प्रेम संगीत', 'मानव', तथा 'एक दिन' काव्य संकलन में ऐसे गीत संग्रहीत हैं जो नवगीत की विशेषता लिए हुए हैं। गोपाल सिंह 'नेपाली' के 'उमंग' (1934), 'पंछी' (1934), 'रागिनी' (1935), 'पंचमी' (1942) आदि संकलनों में उनके गीत प्राप्त होते हैं। उन्होंने मानवीय संवेदना में गहरे उतरकर काव्य अभिव्यक्ति को नयी भंगिमा प्रदान की है तो साथ ही प्रकृति का उन्मुक्त और सहज व नैसर्गिक स्वरूप भी उभारा है।

छायावादोत्तर गीत–काव्य को परिमाणात्मक अधिक समृद्ध करने वाले कवि बच्चन हैं। 'निशा–निमंत्रण' (1937–38) 'एकांत संगीत', 'आकुल–अंतर' (1943) व 'सतरंगिनी' आदि अनेक गीत–संग्रह प्रकाशित हुए हैं। छन्द के स्तर पर भी आंशिक ही सही नये प्रयोग इनके गीतों में देखने को मिले हैं।

'नौ अगस्त / नौ अगस्त / देश चोट खा गिरा।

अति आपदा घिरा / और बंद जेल में पड़े हुए वतन परस्त।'

इस कालावधि में पं. नरेन्द्र शर्मा के 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत' (1938), 'पलाश वन' (1939) और 'अग्निशस्त्र' (1950) के गीतों में नवगीत के लिए छंदों का वैविध्य तथा प्रकृति का भरपूर साहचर्य मिलता है।[1]

'तार सप्तक' (1943) का प्रकाशन पांचवे दशक के काव्य इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। तार सप्तक को 'प्रयोगवाद' की शुरूआत और अन्ततोगत्वा 'नयी कविता' की प्रवेशभूमि माना गया है। इस संकलन के सातों कवि 'नयी कविता' के प्रतिष्ठित कवि रहे, किन्तु इनमें से गिरिजा कुमार माथुर, राम विलास शर्मा, व मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों में नवगीत धारा का सातत्य मिलता है। गिरिजाकुमार माथुर ने गीतों को नए–नए छन्द परिधान दिए जो पूर्णतः लययुक्त हैं। श्री माथुर परिवर्तित भाव–बोध के सजग गीतकार हैं। उनका 'छाया मत छूना', 'आज हैं केसर रंग रँगे वन' तथा 'नया कवि' आदि रचनाएँ

[1] नवगीत दशक–२, शम्भूनाथ सिंह, पृ. ११३

नवगीत हैं।

राम–विलास शर्मा ने गीत बहुत कम लिखे फिर भी उनमें व्याप्त अवध का आंचलिक सौन्दर्य, हार्दिकता, वेग, वर्णात्मकता आदि प्रवृत्ति इस नवगीत विद्या को रचनात्मक किन्तु सांकेतिक मोड़ देने में समर्थ हुई है। मुक्तिबोध प्रायः छान्दसिक रहे हैं। प्रभाकर माचवे की 'राही से', 'प्रेम एक परिभाषा', विशुद्ध नवगीत है। भारत भूषण अग्रवाल की 'जागते रहो' और 'पथहीन' रचनायें स्पष्टतः नवगीत की परिधि में आयेंगी। अज्ञेय की 'भादों की कसम' तथा नेमिचन्द्र जैन की 'क्या भाया?', 'धूल भरी दोपहरी' नवगीत का बोध कराती है।

प्रयोगकाल के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट गायक शंभुनाथ सिंह, विद्यावती कोकिल, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन व त्रिलोचन सामने आये। नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन जो स्वतंत्र भारत की विशिष्ट त्रयी बनकर सामने आये, उनमें से मात्र केदारनाथ अग्रवाल गीत से नवगीत तक की यात्रा जारी रख सके। केदारनाथ अग्रवाल के प्रारंभिक नवगीत 'युग की गंगा', 'नींद के बादल' और 'लोक और अलोक' सभी (1947) में संग्रहीत हैं। कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का गीत संग्रह 'मेघमाला' भी इसी दौर में प्रकाशित हुआ। इनके नवगीत अपनी धरती, अपने अंचल से, आम जन–जीवन से जुड़े हुए हैं।[1]

चौथे दशक में शंभुनाथसिंह काव्य मंच पर आये। उनके गीत संग्रहों में 'जीवन गीत' (1943), 'किसी के रूप के बादल' (1943) जनधारा (1948) आदि हैं। शंभुनाथ सिंह ने 1950 तक मात्र वैयक्तिक रोमान या पीड़ा को ही अपने गीतों में महत्व नहीं दिया अपितु उनके 'उदयाचल' (1941–46) के गीत कवि की तब की भावचेतना के विस्तार के भी प्रमाण हैं। नवगीत विकास यात्रा में उनके छट्ठे दशक के गीत अधिक महत्वपूर्ण हैं।

शमशेर बहादुर सिंह की पहचान नयी कविता के प्रयोगधर्मी कवि के रूप में है, गीतकार के रूप में नहीं। किन्तु अपनी काव्य–यात्रा के आरंभ में उन्होंने कुछ अच्छे गीत भी लिखे हैं। जैसे 'फिर वह एक हिलोर उठी' (1940), 'वाम वाम वाम दिशा' जिनमें सीधी सपाट अभिव्यक्ति हैं तो कुछेक में कहने का मौलिक ढंग तथा प्रतीकों की नवीनता

[१] नवगीत दशक–२, शम्भूनाथ सिंह, पृ. १३२

और नए छन्दों का रचाव है, ऐसी रचनाओं में 'लेकर सीधा नारा' (1941) 'जीवन की कमान' (1941) आदि प्रमुख हैं। उनके गीत 'बात बोलेगी' में संकलित हैं।

शीर्षस्थ आलोचक नामवर सिंह ने छोटे-छेटे गीतों की लोकरंजित शब्दावली में उन्होंने पारंपरित 'सवैया' और 'घनाक्षरी' छन्द का जो गीतात्मक विन्यास किया है, वह नवगीत रचना के सर्वथा अनुकूल है-

''उनये उनये भादरे /
बरखा की जल चादरें / फूल दीप से जले /
कि पुरवैया सी याद रे / भादरे /
उठे बगूले घास में / चढ़ता रंग बतास में /
हरी हो रही धूप / नशे सी चढ़ती झुके अकास में।
तिरती है परछाइया सीने के भीगे चास में / घास में''[1]

'नामवर सिंह' के ऐसे गीत 'नीम के फूल' (1950) तथा 'पकी आँखे' में संग्रहीत हैं।

नवगीत की इस प्रयोग अवधि में रचनाशील अन्य गीतकार केदारनाथ मिश्र, 'प्रभात', जानकी वल्लभ शास्त्री, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'दिनकर', सोहनला द्विवेदी, सुमन, तथा नीरज आदि हैं। इन प्रत्येक गीतकारों ने हिन्दी गीत-धारा को समद्ध और पुष्ट किया तथा गीत को नए भाव-बोध से सम्पन्न किया।

2) द्वितीय चरण : सन् 1951 से 1965 ई.

भारतीय काव्य इतिहास में पाँचवे दशक का उत्तरार्द्ध और छठे दशक का पूवार्द्ध सर्वाधिक तीव्रगामी और वैविध्य से युक्त संक्रान्ति काल रहा। 'तार सप्तक' के बहाने छिड़ी काव्य चर्चा ने दूसरा तार सप्तक (1951) के प्रकाशित होते ही तेज गति पकड़ी। प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद और अनेकवाद की व्याख्याएँ-प्रतिव्याख्याएँ हुईं और अंत में नयी कविता प्रतिष्ठित हुई। इसी के समान्तर कविता की वह गीत धारा को जो निरन्तर परिवर्द्धित, पुष्ट और स्थिर स्वरूप पाने के लिए सचेष्ट थी, अधिक प्रशस्त होकर सामने आयी।

[1] नीम के फूल एवं पकी आँखें – नामवर सिंह – मैं संग्रहित

नवगीत विकास की दृष्टि से ये डेढ़ दशक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहे जाएँगे, क्योंकि इसी कालावधि में नवगीत की उपेक्षा पर चिन्ता जाहिर की गई और इसके स्वरूप की चिंता की गई तथा नवगीत ने अभिधान प्राप्त किया। काव्य क्षेत्र में स्पष्ट तौर पर यह महसूस किया जाने लगा कि प्रयोगवादी कविता धारा के समकक्ष काव्य–व्यक्तित्व के विशिष्ट लक्षणों तथा पृथक् चिन्तन, पद्धति व सांस्कृतिक चेतना से पूरित गीत–गंगा प्रवाहमान हैं।

डॉ. शंभुनाथ सिंह छठे दशक में दिवालोक (1953) और 'माध्यम में' (1955) में संग्रहीत निकट और जातीय चेतना के अनुकूल माध्यम मानकर निरन्तर नये प्रयोग करते रहे। इन दिनों गोष्ठियों, रेड़ियों वार्ताओं आदि में वे वाचिक तौर पर नवगीत संज्ञा का प्रयोग करने लगे थे।

बच्चन की प्रणय पत्रिका (1955), 'घाट के इधर–उधर' (1957), आरती और अँगारे (1958), 'त्रिभंगिमा' (1961) और 'चार खेमे चौसठ खूँटे' (1962) गीत केन्द्रित संग्रह प्रकाशित हुए। नवगीत की दृष्टि से 'त्रिभंगिमा' (1961) तथा 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' ही महत्त्वपूर्ण हैं। जिनमें लोक लयों पर आधारित गीत के साथ–साथ अभिनव छन्दों का भी सृजन हुआ है।

डॉ. जगदीश गुप्त ने पाँचवे और छठे दशक में स्तरीय गीतात्मक रचनायें लिखी। 'नाव के पाँव' (1955) तथा 'हिमबिद्ध' संग्रह गीत यात्रा की उल्लेखनीय कड़ियाँ हैं।

'नयी कविता' के पुरोधा 'अज्ञेय' के 'आँगन के पार द्वार', 'अन्तरंग चेहरा', 'पलकों का कंपना', 'एक प्रश्न', 'साँस का पुलता' तथा अनेक अंशी, 'चन्द्रकान्त शिला' जैसी कुछ रचनाओं में गीत व्याप्ति है, किन्तु यह व्याप्ति 'नयी कविता' के आँगन के पार द्वार तक ही है।

नवगीत विकास यात्रा में दूसरा सप्तक (1951) तथा तीसरा सप्तक (1959) में संकलित रचनाकारों में पं.भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश महेता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हैं। इनमें पं. भवानी प्रसाद मिश्र की काव्य–चेतना में लोक जीवन और लोक प्रकृति का गहरा पुट है जो नवगीत का प्रमुख उपादान है।

'छोटी–सी पहाड़ी है,
है एक नगर, है एक गाँव, वे दोनों मत मिलने पायें,
इस के उपवन के कुसुम नहीं उस के खेतों खिलने पायें
इस लिए खड़ी है सिर ताने, इस लिए बीच में आड़ी है,
छोटी–सी एक पहाड़ी है।'[1]

गीत फरोश (1956), 'चकित है दुःख' (1968) तथा 'अँधेरी कविताएँ के गीत' में नवगीत की प्रेरक भूमि है। नरेश महेता के गीत 'दूसरा सप्तक' तथा 'वन पाँखी सुनो' में उपलब्ध है, जिनमें अमूत बिम्ब विधान का विरल प्रयोग है। रघुवीर सहाय ने अपने गीतों में छन्द की नवीनता और भाषा की सहजता तथा सरल प्रतीकों का प्रयोग कर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। इनके गीत दूसरा सप्तक तथा 'सीढ़ियों पर धूप' में आए है। नवगीत में जल–सी निर्मल, मणि–सी उज्जवल, नवल, स्नात, हिम धवल भाषा, रोमान और लोक जीवन के प्रतीकों के ज़रिए आधुनिक भावबोध को धर्मवीर भारती ने व्यक्त किया है। उनके 'ठण्डा–लोहा' (1952) तथा 'सात गीत वर्ष' (1959) के गीत युग संक्रान्त के मर्मस्पर्शी बोल हैं।

कुँवर नारायण ने छोटे चरणों वाले छन्दों में सरस बोलचाल की भाषा में आधुनिक भावबोध से युक्त नवगीत लिखे हैं। 'चक्रव्यूह' 'परिवेश–हम तुम' में उनके नवगीत समाविष्ट है। सर्वेश्वर दयाल सक्शेना "तीसरा सप्तक' के ऐसे कवि हैं, जिन्होंने सर्वाधिक गीत लिखे हैं। 'काठ की घंटियाँ' के इनके गीत विशेष तौर पर दृष्टव्य हैं। विजयदेव नारायण साही के गीत 'तीसरा सप्तक' में 'मानवराग', 'संग–संग के गान', 'माघ दस बजे' आदि उल्लेखनीय हैं। विरेन्द्र मिश्र छठे दशक में नवगीत की 'खिलती किरन' लेकर आए। उनके गीत संग्रह 'गीतम' (1953) तथा 'लेखनी बेला' सभी रचनायें नवगीत नहीं हैं किन्तु इन संग्रहों में अनेक अच्छे नवगीत भी हैं। गीतों में टकसाली बोली और अपरिचित उपमान का विन्यास उनके गीतों में मिलता है, वह विरल है –

''जिस समय से रचा गीत है
वह नयन का नया मीत है

---
[१] भवानी प्रसाद मिश्र – गीत फरोश, पृ. २७

इक दुल्हन की तरह।''[1]

नवगीत विकास क्रम में 'वंशी और मादल' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है। '51' में पहली बार ये गीत प्रकाश में आये, तब इनमें अज्ञेय को हिन्दी कविता के नए वातायन खुलते दीख पड़े थे। इन गीतों के द्वारा पूर्वांचल स्थित 'संथाल' क्षेत्र के आदिवासियों की लोक–चेतना को लोक–लय आश्रित छान्दसिक अभिव्यक्ति मिली। इसके अतिरिक्त मुझफ्फरपुर (बिहार) से प्रकाशित 'गीतांगिनी' (1958) नवगीत के क्षेत्र में एक असाधारण उपलब्धि है। संपादक राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने इसमें 'नये ढंग के गीत' के लिए लिखित परम्परा में 'नवगीत' अभिधान का सर्वप्रथम प्रयोग किया और नवगीत संज्ञा सर्वमान्य होकर प्रचलन में आ गई। उन्होंने नामकरण बोध के साथ नवगीत के पंचतत्व जीवन दर्शन, आत्म निष्ठा, व्यक्तित्व बोध, प्रीति तत्व और परिसंचय को भी प्रस्तुत किया। 74 कवियों की गीत रचनाओं के साथ 'गीतांगिनी' संग्रह प्रकाश में आया। इस प्रकार उन्होंने नवगीत की घोषणा कर उसको, विकासात्मक दिशा देने तथा चर्चा केन्द्र बनाने में भरपूर सहयोग दिया।

आलोच्य अवधि में नवगीत रचना के समानान्तर उसके व्यक्तित्व को लेकर शीर्षस्थ रचनाकारों की चिंतनधारा गोष्ठियों, परिसंवादों, आलेखों तथा वक्तव्य आदि के माध्यम से प्रकट होने लगी थी। वीरेन्द्र मिश्र ने दिसम्बर 1956 में प्रयोग के साहित्यकार सम्मेलन में 'नयी कविता नया गीत', 'मूल्यांकन की सीमाएँ' शीर्षक लेख में 'फार्म' और 'कान्टेन्ट' दोनों से समृद्ध 'हिन्दी में एक नए गीत के जन्म' की सूचना दी। वीरेन्द्र मिश्र अजमेर से प्रकाशित 'लहर' पत्रिका में 1956 से 1964 तक नए गीत के स्वरूप को प्रस्तुत करते रहे। वासन्ती (1960 अप्रैल) वाराणसी से प्रकाशित पत्रिका में डॉ. शिव प्रसाद सिंह का 'गीत कविता के प्रति ऐसी वक्र भृकुटि क्यों?' लेख सामने आया। 'पाँच जोड़ बांसुरी' के सहयोगी व गीतकार महेन्द्र शंकर के संपादकत्व में प्रकाशित 'वासन्ती' (1962 ई.) में 'नये गीत नेय स्वर' लेख माला में गिरिजाकुमार माथुर, त्रिलोचन शास्त्री, शंभुनाथ सिंह, ''वीरेन्द्र मिश्र आदि ने गीत की परम्परा, बदलते स्वरूप, अनिवार्यता, प्रकृति और नव प्रयोग पर विस्तार से विवेचन किया। इसी के साथ ओम प्रभाकर व भागीरथ भार्गव द्वारा

[1] वीरेन्द्र मिश्र – लेखनी बेला, पृ. १२

संपादित 'कविता–1964' नवगीत का पहला संकलन प्रकाश में आया। सन् 1963 में परिनिष्ठित शैली में गेयता तथा नये बिम्बों में आधुनिक जीवन के कटु यथार्थ लेकर 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' सामने आये। तो संपादक हरीश भादानी ने 1965 ई. में 'वातायन' में गीत विशेषांक प्रस्तुत किया। तो सातवें दशक के मध्याह्न में लघु पत्रिकाओं तथा कथित व्यावसायिक या बड़ी पत्रिकाओं में भी नवगीत चर्चा का केन्द्र बिन्दु रहा। इस संदर्भ में इलाहाबाद से प्रकाशित 'माध्यम' (नवम्बर 1964), 'ज्ञानोदय' (1965), लखनऊ से प्रकाशित उत्कर्ष, 'धर्मयुग' आदि उल्लेखनीय हैं।''[1]

वास्तव में छठे दशक में हिन्दी लेखन में तथा नवगीत में आंचलिकता विशेष रूप से परिव्याप्त हुई। लेकिन नवगीत की वस्तु सत्ता आंचलिक दामन में ही सिमटकर नहीं रह गई, वरन् इस दशक के मध्य तक ऐसे नवगीत भी सामने आये जिनमें नगरीय, महानगरीय जीवन की समस्याएँ, आपाधापी और तेजी से हो रहे औद्योगीकरण की तस्वीर भी नजर आती है।

(3) तृतीय चरण : 1966 से 1980 ई. तक

'कविता–1964' तक आते–आते 'नवगीत' ने लगभग सर्व स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। रचना और आलोचना दोनों क्षेत्रों में वह पर्याप्त चर्चा का विषय बन चुका था। नवगीत समकालीन काव्यधारा 'नयी कविता' के समानान्तर समावृत और अभिव्यक्ति का सहज भारतीय स्वर बन चुका था।

सन् 1966 व 1967 ई. में दिल्ली से क्रमशः 'गीत–1' व 'गीत–2' के समवेत संकलन प्रकाश में आये, जो नवगीत की पहचान बनाने और उसे प्रकर्ष की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण आधार बने। साथ ही अनेक पत्रिकाओं ने भी नवगीत को यथेष्ट समादर प्रदान किया। जिनमें 'ज्योत्सना' (पटना), 'ज्ञानोदय' (कलकत्ता), 'कल्पना' (हैदराबाद), 'सान्ध्यमित्रा' (बम्बई), 'वातायन' (बिकानेर) आदि प्रमुख हैं। इन लघु पत्रिकाओं के अतिरिक्त समाचार पत्रों के साहित्यिक पन्नों तथा काव्य मंचों के माध्यम से भी अनेक गीत कवि अपनी नयी वस्तु चेतना लेकर प्रस्तुत हुए। उनमें भवानी प्रसाद तिवारी, मुकुट विहारी 'सरोज', शान्ति सुमन, भारत भूषण, नईम, ओम प्रभाकर, रामदरश मिश्र,

[1] नवगीत दशक – शम्भूनाथ सिंह, पृ. १११

उमाशंकर तिवारी आदि हैं। इनके अतिरिक्त डॉ. शंभुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, और ठाकुर प्रसाद सिंह के यहाँ भी नवगीत रचना का सातत्य बना रहा।

छायावादोत्तर हिन्दी गीत-विधा में प्रयोगधर्मिता को रेखांकित करनेवाला संकलन 'पाँच जोड़ बाँसुरी' 1969 में प्रकाशित हुआ। इसमें निराला से लेकर नरेश सक्सेना तक के चालीस काव्यकारों की गीत धारा को प्रस्तुत किया गया है। नवगीत की विकास धारा को समझने के लिए यह संकलन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आठवे दशक में विशुद्ध नवगीत संकलनों की अच्छी खासी संख्या सामने आई। साथ ही सन् 1980 में माहेश्वर तिवारी, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' व डॉ. भगवानशरण भारद्वाज के संपादन में 'नवगीतः सर्जन और समीक्षा' नामक ग्रन्थ प्रकाश में आया। इसमें इक्यावन गीतकारों की रचनायें संकलित हैं।

साथ ही नवगीत अब चर्चा के केन्द्र में आ गया। इस दिशा में दिल्ली में 'प्रभा' द्वारा आयोजित बैठक (2 जनवरी 1966) उल्लेखनीय है। इसी वर्ष हिन्दी साहित्य संघ पटना ने भी एक संगोष्ठी आयोजित की। इस वर्ष कलकत्ता में तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद ने अपने 22 वें अधिवेशन में गोष्ठी की। अप्रैल 1967 में 'साहित्यिकी' द्वारा रवीन्द्र भ्रमर व बालस्वरूप राही ने नवगीत पर आलेख प्रस्तुत किया।

विचार गोष्ठियों के अलावा बालस्वरुप राही के 'नया गीत' (धर्मयुग 20 मार्च 1966), गोपालदास नीरज का 'प्रश्नचिन्हों' की भीड़ में घिरा गीत' (साप्ताहिक हिन्दुस्तान 1966), शचीन्द भटनागर का 'आधुनिक गीत छन्द विधान' (धर्मयुग 25 फरवरी व 3 मार्च 1960) लेखों के जरिए नवगीत चर्चा का केन्द्र बिन्दु रहा। तो आठवें दशक में वीरेन्द्र मिश्र द्वारा संपादित 'सन्ध्यमित्रा' में नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में नवगीत को आँकते हुए वीरेन्द्र मिश्र के विवेचनापूर्ण लेख सहित ओम प्रभाकर, उमाकान्त मालवीय, अनूप अशेष, माहेश्वर तिवारी, देवेन्द्र शर्मा आदि विशिष्ट 21 नवगीतकारों की रचनायें संकलित हैं।

(4) चतुर्थ चरण : सन् 1981 से आज तक

आठवे दशक तक नवगीत हिन्दी रचना संसार में भली-भाँति प्रतिष्ठित ओर व्यापक स्वीकृति पा चुका था। नौवां दशक नवगीत को प्राप्त प्रतिष्ठा और व्यापक स्वीकृति

तथा यशोलब्धि आधार को संयोजित करने का रहा। यह दशक नवगीत रचना विकास को तार्किक और व्यवस्थित तौर पर संग्रहीत कर जिज्ञासु पाठकों तक पहुँचाने का भी मौन आग्रही रहा। इस महनीय और चुनौती भरे ऐतिहासिक दायित्व का बखूबी निर्वाह डॉ. शंभुनाथ सिंह ने किया। उन्होंने नवगीत वाङ्मय तथा उससे संबंधित आलोचना साहित्य को प्रकाश में लाने का नैष्ठिक प्रयास किया।

सन् 1982, 83, 84 व 86 ई. में क्रमशः नवगीत दशक 1, नवगीत दशक 2, नवगीत दशक 3 तथा नवगीत अर्धशती का प्रकाशन हिन्दी काव्य इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना रहीं। इनमें नवगीत को हिन्दी काव्य की स्वाभाविक धारा बताते हुए यह उल्लेख किया गया कि नवगीत नयी कविता वादियों से अवमानित और उपेक्षित होकर भी न तो कभी चुका है और न ही काव्य मूल्यों से च्युत है।

'नवगीत अर्द्धशती' प्रकाशन के साथ नवगीत केन्द्रित आयोजनों की श्रृंखला भी सामने आ गई। मार्च 86 में बम्बई में पं. नरेन्द्र शर्मा की अध्यक्षता में डॉ. धर्मवीर भारती ने इन आयोजन को समारोहपूर्वक लोकार्पित किया। इस पर 'आधुनिक भाषाओं में नवगीतः वर्तमान और भविष्य' तथा 'भारतीय काव्य परंपरा और नवगीत' जैसे विषयों पर भागीरथ दीक्षित, डॉ. चन्द्रकान्त बाँदिबडेकर, डॉ. उमाशंकर तिवारी, डॉ. प्रभात तथा विभिन्न भाषा–भाषी विद्वानों ने विचार प्रकट किये। यह आयोजन बिहार, इलाहाबाद, वाराणसी, आदि स्थानों पर हुए। जिनमें डॉ. शंभुनाथ मिश्र, श्रीकृष्ण तिवारी, उमाशंकर तिवारी, डॉ. जगदीश गुप्त, माहेश्वर तिवारी, डॉ. सुरेश, डॉ. श्री राम वर्मा आदि रचनाकर्मियों ने भाग लिया। इन आयोजनों का अंतिम क्रम 28 फरवरी व 1 मार्च 1987 ई. को गाजियाबाद व दिल्ली में दो दिवसीय कार्यक्रम के रूप में सम्पन्न हुआ। गाज़ियाबाद में अध्यक्षीय उद्‌बोधन करते हुए प्रभाकर माचवे ने नवगीत को भारतीय अस्मिता की मनोभूमि कहा।

''नौवे दशक में प्रतिष्ठित नवगीतकारों के अनेक स्वतंत्र संकलन भी प्रकाशित हुए। जिनमें 'जारी है लेकिन यात्राएँ' (विनोद निगम 1981), 'सन्नाटे की झील' (श्रीकृष्ण तिवारी 1981), 'हर सिंगर कोई तो हो' (माहेश्वर तिवारी 1981) तो 1983 में प्रकाशित संकलनों में 'जाल फेंक रे मछेरे' (बुद्धिनाथ मिश्र), 'एक चावल नेह रींधा'

(उमाकान्त मालवीय), 'गीत पर्व आया है।' (राजेन्द्र गौतम), 1984 में प्रकाशित संकलनों में 'होठ नीले धूप में' (हरिश निगम), 'आहत है वन' (कुमार रवीन्द्र), 'दरिया का पानी' (रमेश रंजक), 1986 में प्रकाशित 'वह मेरे गाँव की हँसी थी' (अनूप अशेष), 'वक्त की मीनार पर' (डॉ. शंभुनाथ सिंह) आदि, 'एक चेहरा आग का' (भगवान स्वरूप 1987), 'प्यास के हिरन' (राधेश्याम बंधु 1989) आदि नवगीत को आधुनिक कविता की सशक्त धारा प्रमाणित करता है।''[1]

तो यह भी स्पष्ट हैं कि प्रकाशन सम्बन्धी असुविधा के कारण समस्त रचित नवगीत साहित्य पुस्तकों का आकार नहीं ले पाया किन्तु उसका बहुत बड़ा अंश पिछले दो दशकों में पत्र–पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। अनेक ऐसे कवि है जिनके नवगीत वर्षों पत्र–पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। ऐसे नवगीतकारों में सूर्य भानु गुप्त, सूर्य कुमार पाण्डेय, श्याम सुंदर दुबे, विनोद तिवारी, धनंजय सिंह, किशोर काबरा, गोपाल चतुर्वेदी, सावित्री परमार, विष्णु विराट, श्री कृष्ण शर्मा, सोम ठाकुर, पाल भसीन, आदि हैं।

तो साथ ही नवगीत रचना साहित्य को पाठकों तक पहुँचाने का कार्य जिन पत्र–पत्रिकाओं ने किया, वे हैं–आजकल, आशीर्वाद, गिरिराज, हरियाणा संवाद, पंजाब–सौरभ, जागृति, मधुमती, पूर्वाग्रह, हिन्दी एक्स्प्रेस, अवकाश, रविवार, धर्मयुग, ज्ञानोदय, साप्ताहिक, भास्कर, वासन्ती आदि। इन पत्र–पत्रिकाओं ने नवगीत रचना और आलोचना को पाठकों तक पहुँचाने का और उसे लोकप्रिय बनाने का दायित्वपूर्ण निर्वाह बखूबी किया।

''इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के बहु आयामी विकास के समानान्तर ही नवगीत की धारा भी अविकल रूप से प्रवाहित होती रही है। यही नवगीत क्रमशः विकसित होकर नवम् दशक तक आते–आते हिन्दी कविता की प्रतिनिधि धारा बन चुका है।''[2]

अंत में कह सकते हैं कि नवगीत अब पहचान या पारिभाषित होने की अपेक्षा नहीं रखता। वह अपनी यात्रा तय कर चुका है। तथा अपने अभीष्ट केन्द्र स्तर दोनों ही दृष्टि से समृद्ध और सर्वथा सम्पन्न काव्य विधा बन चुका है।

---

[१] नवगीत दशक – शम्भूनाथ सिंह, पृ. १२८

[२] विष्णु विराट के नवगीत – डॉ. अस्मिता, पृ. २२